
इकाई 2 भारतीय समाज की प्रतिक्रियाएँ

इकाई की रूपरेखा

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 भारत तथा औपनिवेशिक अनुभव
- 2.3 कृषि-वर्ग की दुनिया
- 2.4 जनजातीय प्रतिक्रिया
- 2.5 मध्यवर्ग, बुद्धिजीवी-वर्ग तथा समाज-सुधार
 - 2.5.1 नए वर्ग के विचार व अभिदृष्टि
 - 2.5.2 समाज-सुधारक तथा जन-विवाद
- 2.6 सुधार आंदोलन?
- 2.7 सुधार या पुनरुत्थान?
- 2.8 सामाजिक अथवा राजनीतिक सुधार
- 2.9 बुद्धिजीवी-वर्ग, सुधार तथा औपनिवेशिक राज्य
- 2.10 उपनिवेशवाद की समालोचना
- 2.11 सारांश
- 2.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 2.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

यह इकाई भारत में उपनिवेशवाद के पदार्पण के प्रति भारतीय समाज की प्रतिक्रियाओं के विषय में है। इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप समझ सकेंगे :

- औपनिवेशिक नीतियों के प्रति कृषि-वर्ग की प्रतिक्रिया;
- इसके प्रति जनजातियों की प्रतिक्रिया;
- इसके प्रति मध्यम वर्गों व बुद्धिजीवी-वर्ग की प्रतिक्रिया; तथा
- औपनिवेशिक काल में सामाजिक व सांस्कृतिक आंदोलनों के उदय का प्रसंग।

2.1 प्रस्तावना

उपनिवेशवाद ने भारतीय समाज का रूप जड़ से ही बदल लिया। इसने उक्त समाज में हलचल मचाकर रख दी। इस समाज ने उपनिवेशवाद का प्रत्युत्तर बहुविध तरीकों से दिया। वे प्रतिक्रियाएँ, बहरहाल, उस प्रसंग जिसमें लोग रहते थे, जिस तरीके से वे औपनिवेशिक शासन को लेते थे और एक भावी समाज की उनकी अभिदृष्टि से प्रभावित थीं। इस इकाई में हम इन विभिन्न प्रतिक्रियाओं की उनके समुचित ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में जाँच-परख करेंगे। इससे हम अपने समाज के ऐतिहासिक घटनाक्रम, तथा उस रीति का भली-भाँति अवलोकन कर सकेंगे जिसमें इस समाज ने गत दो सौ साल या अधिक तक संघर्षरत रह सिलसिलेवार ताकतों का प्रत्युत्तर दिया।

2.2 भारत तथा औपनिवेशिक अनुभव

आपने इकाई 1 में पढ़ा कि सोलहवीं शताब्दी में ही व्यापार का एकमात्र लक्ष्य ले यूरोप, यथा ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल व हॉलैण्ड, से व्यापारिक कम्पनियों ने भारत में प्रवेश कर लिया था। 1716 में, अंग्रेज़ी 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' ने उस वक्त बंगाल, बिहार व उड़ीसा की दीवानी हासिल कर ली जब इसकी सेनाओं ने बंगाल व अवध के नवाबों तथा मुगल बादशाह आलम के संयुक्त बलों को हरा दिया। उन्नीसवीं सदी के प्रथम दशक तक, एकमात्र व्यापारिक कम्पनी ने भारतीय उपमहाद्वीप के एक विशाल भूखण्ड पर अपना प्रभुत्व कायम किया था।

जबकि एक ओर, उपनिवेशवाद ने समाज को कंगाल कर दिया और उसके आर्थिक शोषण हेतु राजनीतिक सत्ता का प्रयोग किया, इसने एक सम्पूर्णतः नए युग के स्वागतार्थ विचारों के वेग को भी उन्मुक्त कर दिया। अंग्रेज अपने साथ इंग्लैण्ड (1688) व फ्रांस (1789) की क्रांतियों का संदेश लाए। स्वतंत्रता, समानता एवं सत्रहवीं व अठारहवीं शताब्दी के यूरोप की वैज्ञानिक क्रांति व प्रबोध-विचारों से जन्मे एक वैज्ञानिक विश्वावलोकन का द्योतन भी औपनिवेशिक शक्तियों के साथ भारत चला आया। उपनिवेशवाद ने, इसी कारण, स्वयं को एक आमूल समाज पुनर्संगठन हेतु विचार आबंटन करने वाले दारोगा की भाँति प्रस्तुत किया, इसके बावजूद भी इसने इस उपमहाद्वीप की आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक पच्चीकारी को एक आधारभूत रूप से बदल डाला।

2.3 कृषि-वर्ग की दुनिया

ब्रिटिश-अधिकृत क्षेत्रों में कई भू-राजस्व प्रणालियाँ, जैसे कि बंगाल में स्थायी बंदोबस्त तथा अन्य क्षेत्रों में रैयतबाड़ी व्यवस्था, शुरू की गईं। ये दोनों ही इस उपमहाद्वीप के अनुरूप थीं, और ग्राम समुदाय के अपनी ही ज़मीन पर पारम्परिक अधिकारों के प्रतिलिखन को इंगित करती थीं। अब परिसम्पत्ति के रूप अस्तित्व में आ गए। बंगाल में, जहाँ स्थायी बंदोबस्त लागू किया गया, ज़मींदार लोग राज्य व किसानों के बीच बिचौलिए बन गए। अन्य क्षेत्रों में, ये किसान अत्यधिक ऊँचे करों से प्रत्यक्षतः दबे थे।

'कम्पनी' ने भीषण रूप से राजस्व वसूलना शुरू कर दिया। अकेले बंगाल में ही कुल उगाहया गया राजस्व 1762-63 में 63.4 लाख रुपये से दूना हो 1765-66 में 147.0 लाख रुपये हो गया। आर. सी. दत्त, जिन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था पर उपनिवेशवाद के प्रभाव का अध्ययन किया, इस निष्कर्षण का आकलन किया कि 1765-66 में 2.26 करोड़ रुपये से यह 1769-70 में 3.7 करोड़ रुपये तक बढ़ गया।

यहाँ तक कि भीषण अकाल में भी करारोपण में कोई कमी नहीं आयी, जो दर्शाता है नए शासकों के न्यायान्याय-विचार-शून्य लोभ को। इससे उन पुराने ज़मींदारों के लिए भीषण संकट पैदा हो गया, जो अब राजस्व-कृषकों की स्थिति में आन पड़े थे। इन नई भू-राजस्व व्यवस्थाओं ने राज्य-संरक्षण पर आधारित लोगों के वर्ग को भी प्रभावित किया, जैसे कि पारम्परिक वृत्तिधारी, फकीर, कलाकार इत्यादि। ज़मींदारों व अन्य अधिकारच्युत लोगों की क्रांति ने औपनिवेशिक शक्ति के प्रति अनुक्रिया सबसे पहले दर्ज की।

कृषि-वर्ग ही इस नई व्यवस्था का निकृष्टतम शिकार था। किसानों ने औपनिवेशिक उत्पीड़न के प्रति विरोध-प्रदर्शन के रूप में प्रतिक्रिया की। यह पाठांश कृषकों की प्रतिक्रिया के कुछ उदाहरण

प्रस्तुत करता है। यह कृषक-प्रतिक्रिया अनेक रूपों में आयी। टीटू मीर (1782) का विद्रोह ब्रिटिश शासन के प्रति एक ऐसी ही पूर्ववर्ती अनुक्रिया थी। टीटू मीर ने ज़मींदारों के खिलाफ़ 24 परगनों (बंगाल) में बरसात के निकट गरीब किसानों का नेतृत्व किया, जिनमें हिन्दू व मुस्लिम दोनों ही थे। उसने अपने अनुयायियों को शुद्ध व सहज इस्लामी प्रथाओं का अनुसरण करने का निर्देश दिया। यह आंदोलन नादिया व फरीदपुर जिलों से लगे क्षेत्रों में फैलना शुरू हो गया। इसकी लोकप्रियता के चलते अंततः औपनिवेशिक शासकों पर टीटू मीर को मार डालने तथा उसके आंदोलन को दबा देने के लिए दबाव पड़ा। नवम्बर 1831 में, बरसात जिले में नरकुल बाड़िया स्थित टीटू मीर के मुख्यालय को नष्ट कर दिया गया। वह और उसके पचास समर्थकों को मौत के घाट उतार दिया गया, और उसके सैकड़ों समर्थकों को गिरफ्तार कर लिया गया।

पूर्वी बंगाल में हाजी शरिअत-उल्ला (1781-1840) के और अधिक व्यापक फराज़ी आंदोलन न इसको अपनाया। शरिअत-उल्ला ने अपने गरीब-किसान अनुयायियों व कुरान व सुन्ना (मुस्लिम कानून) द्वारा निर्धारित कर्तव्यों (फर'इज़, फिर फर'इज़ी) का सख्ती से पालन करने, और ईश्वर की एकता को बनाए रखने का आदेश दिया। उसने जोर देकर कहा कि जब तक बंगाल पर ब्रिटिश हुकूमत रहे जुम्मे और ईद पर सामूहिक समाज़ अदा नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि परम्परानुसार वह केवल एक मिस्त्र अल्जामी (एक कस्बा जहाँ एक स्वतंत्र खलीफ़ा द्वारा समुचित रूप से नियुक्त अमीर और काज़ी रहते हैं) में ही अदा की जानी चाहिए। यह ब्रिटिश शासन के प्रबलतम अभियोगों में एक था। उसके पुत्र दूदा मियां (1819-62) के शासन में, कंगाल व भूमिहीन किसानों, शिल्पकारों तथा बुनकरों ने 'फराज़ी' पद ग्रहण कर लिए। इन फराज़ियों ने क्षेत्र के भू-स्वामियों, जो संयोगवश हिन्दू थे, के साथ-साथ ब्रिटिश नील-कारखाना मालिकों पर भी प्रहार किया। औपनिवेशिक शासकों ने फराज़ियों का दमन करने व ब्रिटिश शासन के शरिअत-उल्ला के अभियोग को निरस्त करने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगा दिया। यह अंततोगत्वा उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में ही हुआ कि इस आंदोलन के नए नेताओं ने जनता को ब्रिटिशों के प्रति वफादारी निबाहने को कहा। ब्रिटिश-विरोधी क्रूरता इतनी सशक्त थी कि लोगों को फराज़ी नेताओं की अनुमति के बग़ैर ब्रिटिश दरबारों में शिकायत-समाधान हेतु जाने की आज्ञा नहीं थी।

1859-60 में, बंगाल के नादिया जिले में किसानों ने सुना कि नया लेफ्टीनेंट-गवर्नर उनकी स्थिति के प्रति सहानुभूति रखता है। उन्होंने जबरदस्ती नील उगाने हेतु नील-बाग़ान मालिकों द्वारा दी जाने वाली अग्रिम-राशि को लेने से इंकार कर दिया। यह आंदोलन पूरे नदीमुख भूमिक्षेत्र में फैल गया। नील-बाग़ान मालिकों पर हमले किए गए और जल्द ही संपूर्ण-व्यवस्था ध्वस्त होनी शुरू हो गई। कलकत्ता में बुद्धिजीवी-वर्ग की सक्रिय दिलचस्पी ने भी नील-बाग़ान मालिकों के दमन पर औपनिवेशिक शासकों का ध्यान केन्द्रित किया। इस क्रांति के परिणामस्वरूप, इस क्षेत्र में नील-पैदावार व्यवस्था समाप्त हो गई। 1870 के दशक में, पबना (बंगाल) में विरोध-प्रदर्शन हुए। किसानों ने स्वयं को यहाँ कृषक-संघों में संगठित कर लिया। 1873 में, पबना व उससे लगे क्षेत्रों में कृषि-वर्ग का एक बृहद्-स्तरीय आंदोलन औपनिवेशिक शासन का एक अन्य सशक्त अभ्यारोपण था।

रैयतबाड़ी इलाकों में, कृषि-वर्ग नकद माँगे जाने वाले राजस्व के बढ़ते दबाव के नीचे आ गया। सूत जैसी वाणिज्यिक फसलों की शुरुआत के साथ ही स्थिति और बिगड़ गई। इससे किसान की मौद्रिक आवश्यकताएँ और बढ़ गईं; इसी के साथ उसकी आत्म-निर्भरता में हास हुआ। बम्बई प्रैसिडेन्सी के साहूकार अधिकांशतः स्थानीय कृषक समुदायों में बाहरी आदमी थे। उन्होंने ऋण-वसूली के लिए कानूनी अदालतों का दरवाज़ा खटखटाना शुरू कर दिया। परिणामतः कृषि-वर्ग का उनकी ज़मीनों से बड़े पैमाने पर स्वत्व-अंतरण हुआ। साहूकारों के विरुद्ध कृषि-वर्ग में सामूहिक अन्तर्संबंध मज़बूत हुए, और 1875 में अहमदनगर व पूना जिलों में वे साहूकारों के खिलाफ़ उठ खड़े हुए।

2.4 जनजातीय प्रतिक्रिया

सदियों से इस उपमहाद्वीप में लोगों की खासी संख्या जाति अथवा पदानुक्रमतंत्र के अन्य सिद्धांतों पर आधारित दूसरे सामाजिक संगठनों से भिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक व आर्थिक दुनिया में वास करती आई थी। यूरोपीय भाषा व ज्ञान प्रणालियों से आयात 'जनजाति' शब्द इन्हीं लोगों के वर्णन हेतु प्रयोग किया गया। दो संगठनों के बीच संबंध प्रसंग-प्रसंग में भिन्न होते थे। उपनिवेशवाद ने गैर-जनजातीय बाहरी व्यक्तियों हेतु बड़ी संख्या में जनजातीय लोगों के आवास-क्षेत्रों में जाने के लिए अवसर व स्थितियाँ पैदा कीं। औपनिवेशिक शासन जनजातियों के जीवन में अन्य मूलभूत परिवर्तन ले आया।

सदियों तक अपेक्षित अलगाव में रहते-रहते, जनजातीय लोगों ने सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक पैटर्न भिन्न रूप से विकसित किए। औपनिवेशिक राज्य ने बड़ी संख्या में राजस्व-कृषकों, वन-ठेकेदारों व ईसाई-मिशनरियों को जनजातीय इलाकों में घुसपैठ हेतु सुविधा प्रदान की। छोटानागपुर व संधाल परगनों जैसे वनीय व पहाड़ी भू-भाग में रहने वाले समुदायों की अल्प जानकारी रखने वाले ब्रिटिशों ने उन बाहरी लोगों को स्वीकृति प्रदान कर दी जो इस क्षेत्र में स्वयं को जनजातीय प्रदेशों के भी शासक अधिपतियों के रूप में स्थापित कर चुके थे। इन्होंने उनके साथ राजस्व-व्यवस्थाएँ भी चालू कर दीं। बदले में उन्होंने एक अनिवार्य राजस्व संबंध के तहत जनजातियों के साथ अपनी प्रथागत प्रतिभाओं व सहायक संबंध को भी बदल डाला। नई कानूनी व्यवस्था ने इस संबंध को सर्वोच्च राजस्व-स्वामी के रूप में औपनिवेशिक मालिकों के साथ जनजातीय लोगों पर थोप दिया। इस प्रकार, जनजातीय लोग भूमि, वन तथा वह सब जिससे वे सदियों से परिचित थे, पर अपने पारम्परिक अधिकारों से वंचित हो गए। नई व्यवस्था जिसमें जनजातीय लोगों के अधिकारों का द्योतन ही नहीं था, के अल्पज्ञान के साथ उन्होंने तेजी से घुसपैठ करते कृषिक समुदायों के साथ कोई सहानुभूति नहीं देखी।

मध्य भारत की जनजातियाँ, विशेषतः जो छोटानागपुर व संधाल परगना क्षेत्र में रहती थीं, नए हालातों में सर्वाधिक पीड़ित हुईं। 1780 के बाद जब ब्रिटिश लोग जंगल महल और छोटानागपुर में घुसना शुरू हो गए, ठेकेदार व अन्य बिचौलिए भी इस व्यवस्था में शामिल हो गए। औपनिवेशिक अवबोधन में जनजातियों के बीच कुछ आंतरिक मतभेदों के बढ़ जाने से ये परिवर्तन हड़बड़ी में किए गए। औपनिवेशिक व्यवस्था व बाहरी लोग जनजातीय लोगों से उन पाहन (पादरियों), अथवा मुण्डा (नेता) अथवा मुण्डा जनजाति की भाँति व्यवहार करने लगे, जिनकी सामाजिक स्थिति भू-स्वामियों अथवा राजनीति व सामाजिक नेताओं के रूप में, सर्व-समान लोगों में से एक की थी। इसने छोटानागपुर में मुण्डाओं व ओराओं के समुदायों जैसी सापेक्ष समतावादी व्यवस्था प्रदान की। मिशनरियों के आगमन व बड़े पैमाने पर धर्मांतरणों ने, विशेषतः उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशकों में, नए अन्तः व आन्तर विभेदीकरण को जन्म दिया। जनजातीय लोगों व पड़ोसी समुदायों के बीच सदियों में विकसित हुई ये व्यवस्थाएँ भी छितरी हुई थीं। जंगल महलों के चटवाल छोटानागपुर में स्थानीय शासक अधिपतियों के पारम्परिक पुलिस-दल थे। इस व्यवस्था का उन्मूलन 1790 के दशक में चटवालों की प्रसिद्ध चुअर क्रांति में परिणत हुआ। इसी प्रकार, औपनिवेशिक उद्देश्यों हेतु वन-भूमि के संरक्षण ने वन व उसके वासियों के साथ जनजातीय संबंध को बदल दिया। परन्तु सर्वाधिक आत्यन्तिक परिवर्तन बाहरी लोगों के बड़े पैमाने पर अन्तर्वेधन के रूप में आया।

बाहरी व्यक्तियों के खिलाफ प्रबलतम अभिव्यक्ति, जो अधिकांशतः साहूकारों, राजस्व-ठेकेदारों, वकीलों व भू-स्वामियों के रूप हुई, थी दामनी-ए-कोह (आज का संधाल परगना जिला) में संधालों का प्रसिद्ध 'हल विद्रोह'। 1855 में सिधो व कनु के नेतृत्व में, संधालों ने औपनिवेशिक शासकों के साथ-साथ उन बाहरी लोगों पर भी हमले किए जिन्हें वे 'डिकू' कहते थे। 1832-33 में जंगल

महलों में 'भूमिजियों' ने औपनिवेशिक शासकों के खिलाफ क्रांति की, जबकि 1850 के दशक में राँची जिले में 'सरदार' पुकारे जाने वाले जनजातीय नेताओं ने द्रुत भूमि-स्वत्व-अंतरण के खिलाफ क्रांति की।

छोटानागपुर क्षेत्र में ईसाई मिशनरियों ने शोषित जनजातीय लोगों की मदद हेतु हाथ बढ़ाया। उन्होंने न सिर्फ अस्पताल व स्कूल खोले, बल्कि प्रशासन के साथ उनके हेतुक में रुचि लेते हुए, जनजातीय लोगों व उनकी समस्याओं के बारे में औपनिवेशिक शासकों को चेताया भी। भूमि के सवाल पर, बहरहाल, न तो औपनिवेशिक शासन और न ही मिशनरियाँ हस्तक्षेप का इरादा रखती थीं। छोटानागपुर में जनजातीय लोगों का एक बड़ा वर्ग, इसी कारण, मिशनरियों को औपनिवेशिक स्वामियों से अभिन्न रूप में देखने लगा। इसी प्रसंग में, 1899-1900 में, राँची जिले में बिरसा मुण्डा व उसके उल्गुलन (महाफसाद) का उदगमन हुआ। बिरसा के अनुयायियों ने पुलिस-थाने जैसे औपनिवेशिक प्राधिकरण के सभी प्रत्यक्ष प्रतीकों पर हमले किए। इसमें पूरी ही जनजाति ने भाग लिया। जब गया मुण्डा व उसके आदमी खुन्ती पुलिस-थाने पर एक हमले से लौटे तो मुण्डा महिलाओं ने उनका उसी पारम्परिक तरीके से स्वागत किया जो पुरुषों का किसी आखेट-अभियान से लौटने पर ही किया जाता था।

ब्रिटिश शासन के अंतर्गत असम 1826 में ही आ पाया, और नागा पहाड़ियों में व मणिपुर क्षेत्र में औपनिवेशिक घुसपैठ अपेक्षाकृत देर से हुई। असम में, वैष्णववाद ने सदियों तक स्थानीय जनता पर बड़ा ही प्रभाव डाला। कलकत्ता के साथ सम्पर्क ने नए प्रभावों के लिए यह क्षेत्र खोल दिया। इस प्रकार का एक प्रभाव था हिन्दूकरण के उपलब्ध तरीके का एक विकल्प। धुबरी के कालीचरण मैक ने कलकत्ता के एक हिन्दू संन्यासी से प्रेरित होकर एक नया धर्म चलाया जो क्षेत्र में विद्यमान हिन्दूकरण विधियों से जुड़े खर्चीले कर्मकाण्डों का परिहार करता था। नए धर्मांतरण जिन्हें 'ब्रह्मा' कहा जाता था, ने स्वयं को अपनी जनजातियों की निरक्षरता का दूर करने में लगा दिया। एक आंदोलन और भी था – चावल की शराब, मांस, आदि से परहेज करने का।

अभ्यस्त होने के लिए जनजातीय लोगों पर परिवर्तन का दबाव बहुत अधिक भी था और द्रुत भी। प्रेरणा के लिए, इसीलिए, वे अपने अतीत की ओर देखते थे। उनकी सभी क्रांतियाँ एक खोये मगर सुनहरे अतीत के सचेत आह्वान से अभिलक्षित थीं। सिधो, कनु व बिरसा मुण्डा, सभी ने एक गुजरे जमाने, सतयुग, की तुलना में जनजाति की वर्तमान पीड़ा, कलयुग, को रखकर अपनी जनजाति की एक गौरवमयी तस्वीर का सजीव वर्णन किया – बिरसा ने अपनी जनजाति की दुर्गति के लिए गोरे पिताओं, काले पिताओं (धर्मांतरित जनजातीय लोग), व औपनिवेशिक शासकों को दोषी ठहराया जिनकी वजह से उसने अपने देश व धर्म को खोया था और पूरी तरह से अधःपतन का शिकार हो गया था। इस प्रबोधन ने इन सभी आंदोलनों के पृष्ठ में भाई-चारे हेतु वैचारिक आधार प्रदान किया। ईसाई व गैर-ईसाई विश्व-दृष्टियों के बीच बढ़ती फूट से व्यथित लोगों द्वारा ईसाइयत-पूर्व दिनों की समुदाय-स्मृतियों को पुनर्जीवित करने के प्रयास किए गए। यह 19वीं सदी के अन्तिम दशकों में बाहरी लोगों व ब्रिटिश शासन के विरुद्ध एक हमले से जुड़ गया। खासी जनजाति ने भी एक ऐसा ही प्रयास किया।

20वीं सदी के आरंभिक दशकों में गति पकड़ते राष्ट्रीय आंदोलन ने जनजातीय आंदोलनों को प्रभावित किया। राँची जिले में गुमला का 'ताना भगत' आंदोलन, और नागा पहाड़ियों में 'ज़ेलिआंग्रोंग' आंदोलन ऐसे ही उदाहरण थे। जादोनांग (1905-1931), जिसने तीन मूलभूत उद्देश्यों को लेकर 'हारका' धार्मिक पंथ चलाया, ने 1925 में संयुक्त 'ज़ेलिआंग्रोंग' या 'हाओमी' आंदोलन शुरू किया। पहले, जनजातियों, खासकर ज़ेमी, लिआंगमी और रांगमी, के सुधार को लक्ष्य बताया ताकि वे ईसाइयत के घातक आक्रमण का सामना कर सकें। दूसरे, ब्रिटिश शासन पर हमला

कर शोषक औपनिवेशिक कानूनों को उखाड़ फेंकना। और तीसरे, नागा राज की स्थापना। यह आंदोलन 'कूकी' जनजाति - "बाहरी" के विरुद्ध भी अभिलक्षित था। 1927 के बाद, गाँधीजी से प्रभावित हो, जादोनांग ने क्षेत्र में एक नागरिक अवज्ञा आंदोलन शुरू कर दिया। 13 जून, 1931 को जादोनांग को गिरफ्तार कर मौत की सज़ा सुनाई गई, और अंत में 29 अगस्त, 1931 को फाँसी दे दी गई। गैदिनलियू, एक किशोरी, ने इस आंदोलन का नेतृत्व संभाला। गैदिनलियू के अनुयायियों द्वारा असम रायफल्स की सीमा-चौकी पर हमले के बदले में, मार्च 1932 में, नागा पहाड़ियों में बोपुगोआंमी के पूरे गाँव को सरकारी दलों द्वारा जला डाला गया।

अन्त में, इस सत्रह वर्षीय नेता जिसे नेहरू ने रानी गैदिनलियू कहा, को 17 अक्टूबर, 1932 को गिरफ्तार कर लिया गया, और आजीवन कारावास दे दिया गया। इस प्रकार, 1947 में जब उसे नेहरू के व्यक्तिगत अनुरोध पर छोड़ा गया, वह अपना पूरा यौवन जेल में ही काट चुकी थी।

बोध प्रश्न 1

नोट: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर की जाँच इकाई के अंत में दिए गए आदर्श उत्तर से करें।

1) औपनिवेशिक शासन के प्रति किसानों की क्या प्रतिक्रिया हुई?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध जनजातीय प्रतिक्रिया के क्या संकेत-चिह्न थे?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.5 मध्यवर्ग, बुद्धिजीवी-वर्ग तथा समाज-सुधार

औपनिवेशिक शासन ने देखा एक नए वर्ग का उद्गमन जिसके सदस्य अधिकांशतः नए शिक्षित वर्गों और औपनिवेशिक संस्थापन से जन्मे व्यवसायियों से आए थे। यह वर्ग किसी शाही दरबार अथवा धार्मिक संस्थापन से संबद्ध नहीं था और संपूर्णतः अपने ही बल पर था, सिवाए इसके कि यह अपने

पोषण के लिए नई औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था पर निर्भर था। अपनी निजी परम्पराओं में पारंगत इस वर्ग ने पश्चिम को गढ़ते नए विचारों के पूरे विस्फोट का सामना उन्हें अपनी ही योग्यता के बल पर अपने निजी समाज व उसके संस्थानों के पर्यलोकनार्थ समर्थ बनाते हुए किया। उन्होंने पाया कि शिशु-वध, बहु-विवाह, सती, अस्पृश्यता-प्रथा, नारी-शिक्षा और विधवा-पुनर्विवाह का प्रतिबंधन, तथा किसी विवेचनात्मक ज्ञान-तंत्र का अभाव ही उनके समाज के लक्षण हो चले हैं। और, इस प्रकार, धर्म की शरण लेकर सभी अमानवीय प्रथाओं को तर्कसंगत बनाते हुए धार्मिक व सामाजिक प्रथाएँ अपृथक् थीं।

संस्कृत, अरबी अथवा फ़ारसी में प्रदत्त शास्त्रीय विधि से शिक्षा किसी भी विवेचनात्मक घटक से रहित थी। यह जाति- व लिंग-भेद पर आधारित थी – ग़ैर-ब्राह्मणों व महिलाओं को संस्कृत-शिक्षा की अनुमति नहीं थी। बुद्धिजीवियों व सुधारकों की प्रथम पीढ़ी, खासकर भारतीय सुधार आंदोलन के जनक राजा राममोहन राय (1772-1883), ने अपने पेशों में बहुत पहले ही अपनी अप्रायिक दर्दनाक परिस्थिति का अहसास कर लिया। जबकि उन्हें ईसाई-धर्म संबंधी व कल्पनालोकी प्रहारों के विरुद्ध भारत के समाजों, धर्मों व परम्पराओं की रक्षा करनी थी, उन्हें समाज में व्याप्त दोषपूर्ण व अमानवीय प्रथाओं व उन्मूलन भी करना था। ये ईसाई-धर्म प्रचारक हिन्दू व मुस्लिम प्रथाओं व संस्थाओं को अमानवीय बताते हुए उनकी आलोचना करते थे, और ईसाई धर्म को उन्होंने परित्राण के साधन के रूप में प्रस्तुत किया था। शिक्षित वर्ग ने ही प्रथमतः अपने धर्म व समाज पर इस घातक प्रहार का सामना किया। शिक्षितों का विशाल वर्ग धर्मांतरण कर ईसाई बना दिया गया। राजा राममोहन राय जैसे लोग जो मानते थे कि धर्मांतरण कोई समाधान नहीं है, ने अपने ही समाज को सुधारने की दिशा में काम किया। एक नए समाज की उनकी परिकल्पना स्वतंत्रता, समानता व बंधुत्व, और एक धार्मिक विश्ववाद द्वारा सूचित थी, जो विश्व के धर्मों के बीच एक संयुक्त अभ्यंतर की वकालत करती थी।

2.5.1 नए वर्ग के विचार व अभिदृष्टि

इस नए वर्ग के सिद्धांत व दर्शन राजा राममोहन राय की रचनाओं में सर्वाधिक सुस्पष्ट हैं। फ़ारसी, अरबी, संस्कृत, हिब्रू व अनेक यूरोपीयन व एशियाई भाषाओं की गहन जानकारी के साथ राजा राममोहन राय ने विभिन्न धार्मिक परम्परा में एक गहरी अंतर्दृष्टि अर्जित की। आप यूरोप में हो रही वैचारिक क्रांति से भली-भाँति परिचित थे। आपने महसूस किया कि विस्तृत रूप से फैली अशिक्षा, अज्ञानता तथा विधवा-दाह, शिशु-वध, अत्यधिक कर्मकाण्ड, बहु-विवाह, एवं हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह पर रोक जैसी अमानवीय व क्रूर प्रथाओं के रिवाज़ को जड़ से मिटाने के लिए परम्परा की एक समालोचना आवश्यक है। ये प्रथाएँ धार्मिक उद्धरणों व परम्पराओं के आह्वान द्वारा विधिकृत की जाती थीं। बंगाल में राममोहन राय और फिर विद्यासागर ने, आंध्र में वीरेशलिंगम ने और महाराष्ट्र में कृष्णशास्त्री चिपलूणकर ने यह सिद्ध करने के लिए शास्त्रों का स्वयं अध्ययन किया कि हिन्दू धर्म ने ऐसी प्रथाओं की कभी अनुमति नहीं दी जो ब्राह्मणों के ग़लत व अक्सर व झूठे निर्वचन पर आधारित हों। उनको यह भी स्पष्ट था कि परम्परा को तर्क व सामाजिक भलाई की कसौटी खरा उतरना चाहिए और यह भी कि सामाजिक भलाई समानता, स्वतंत्रता व बंधुत्व के चोतन पर आधारित हो। इस बात के राममोहन राय ही अग्रदूत थे।

2.5.2 समाज-सुधारक तथा जन-विवाद

सुधारकों ने परम्पराएँ कभी निरस्त नहीं कीं, बल्कि उन्हें आलोचनात्मक मूल्यांकन पर रखा। इस प्रकार की समालोचना को एक विज्ञ और छिद्रान्वेषी जनसमूह की वचनबद्धता की आवश्यकता होती थी। इस प्रकार, सुधारकों ने इन समाचार पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से सार्वजनिक बहस में व्यस्त

होने को एक विषय बनाया, जैसे कि राममोहन राय का 'मिरात-उल-अखबार', केशवचन्द्र सेन के 'इण्डियन मिरर' व 'सुलभ समाचार', बालशास्त्री जम्भेकर - 'दर्पण' (1832), लोकहितादि - 'प्रभाकर'। समाज-सुधार से संबंधित लगभग सभी मुद्दों पर एक अभ्यंतर लोकतांत्रिक सिद्धांत को प्रतिबिम्बित करते हुए सार्वजनिक रूप से वाद-विवाद किए गए, जिनका फल उस समय पैर जमाते राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान मिला। इन साहित्यिक भावोद्गारों का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि स्थानिक भाषाएँ समृद्ध हुईं। इसके द्वारा बंगाली, असमिया, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगु व अन्य मुख्य भाषाएँ समृद्ध हुईं। इन सुधारकों ने परोक्ष रूप से भाषायी समुदायों के विकास में योगदान किया, जो कि 1890 के दशक में स्पष्टतः पहचाना गया और आगे चलकर जिसने एक पृथक् उड़ीसा, आंध्र, आदि हेतु माँग में योगदान दिया।

इन सुधारकों ने यह भी महसूस किया कि अपने समाज को मिशनरी व औपनिवेशिक आलोचना के खिलाफ बचाने के लिए और स्थायी सुधार के लिए भी, यह महत्वपूर्ण था कि शिक्षा न सिर्फ पुरुषों के सभी वर्गों को प्रदान की जाए, बल्कि महिलाओं को भी की जाए। उन्होंने एक आलोचनात्मक और वैज्ञानिक शिक्षा-प्रणाली हेतु अभियान चलाया। भारत को जिसकी आवश्यकता थी, वो "संस्कृत-शिक्षा का पुनरुत्थान नहीं" राममोहन राय ने तर्क दिया, "बल्कि अन्य उपयोगी विषयों के साथ गणित, प्राकृतिक दर्शनशास्त्र, रसायनशास्त्र तथा शरीर-रचना विज्ञान को समाविष्ट करते हुए प्रशिक्षण के एक और अधिक स्वतंत्र व प्रबुद्ध तंत्र को प्रोत्साहन" है। यह वायसरॉय कौन्सिल में विधि-सदस्य, लॉर्ड मैकॉले ही थे, जिनका अकादमिक हस्तक्षेप अंग्रेजी शिक्षा हेतु केस जीतने में निर्णायक था। यद्यपि लॉर्ड मैकॉले की मंशा एक ऐसा वर्ग पैदा करने की थी जो 'रंग में भारतीय पर स्वाद में ब्रिटिश' हो, अब भी राममोहन राय व अन्य भारत में नए ज्ञान के परिणाम लाना और भारतीयों को नए विचारों व स्फूर्ति के साथ अनुप्राणित करना चाहते थे।

बोध प्रश्न 2

नोट: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर की जाँच इकाई के अंत में दिए गए आदर्श उत्तर से करें।

1) मध्यवर्ग/ बुद्धिजीवी-वर्ग किस प्रकार कृषि-वर्ग व जनजातियों से भिन्न था?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) उन्होंने किस प्रकार उपनिवेशवाद का प्रत्युत्तर दिया?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) बुद्धिजीवी-वर्ग ने किस प्रकार जन-विवाद को जन्म दिया?

2.6 सुधार आंदोलन

उक्त विचारों व उनके संचरण ने शीघ्र ही इच्छित परिणाम दिए। जाति-व्यवस्था, महिलाओं की स्थिति व शिक्षा-प्रणाली में बदलाव लाने के प्रयास हुए। जिन सुधारों के लिए राममोहन राय खड़े हुए, वे थे – कुलीन व्यवस्था का उन्मूलन (इस व्यवस्था में आवश्यक लड़कियों का विवाह अपने से ऊँची उप-जाति के ब्राह्मण से, जो अक्सर उनसे अधिक आयु के होते थे, कर दिया जाता था, जिसका परिणाम होता था बहु-विवाह प्रथा), विवाह में अल्पवयस्क लड़कियों को बेचने पर रोकथाम, जाति-व्यवस्था का समापन, विधवा-पुनर्विवाह का प्रारम्भ तथा सती का उन्मूलन। सती उच्च जाति के हिन्दुओं के बीच एक विद्यमान प्रथा थी जिसमें विधवा को अपने मृत पति की चिता पर उसके साथ, कभी-कभी बलात्, मर जाना पड़ता था। राममोहन राय में इस निर्मम प्रथा के विषय में कहा कि इसे शास्त्रों की कोई अनुमति नहीं है। उन्होंने व उनके मित्रों ने एक आंदोलन चलाया, जिसके परिणामस्वरूप 1928 के 'लैजिस्लेटिव कौंसिल एक्ट' द्वारा 'सती' को अन्ततः प्रतिबंधित कर दिया गया।

राममोहन राय ने ईसाई मिशनरियों को उन आम बहसों में भी उलझाया जो प्राच्य धर्मों पर उनके धारों को लेकर थीं। उन्होंने ईसाइयत की एक विरूपित व्याख्या प्रस्तुत करने और उसके सत्त्व को तोड़ने-मरोड़ने के लिए मिशनरियों की आलोचना की। यह धावा धार्मिक विश्ववाद के दृष्टिकोण से था। 1928 में, उन्होंने उन सभी को गैर-सम्प्रदायवाद में विश्वास करते थे। आपकी मृत्यु 1833 में ब्रिस्टल, इंग्लैण्ड में हुई। ब्रह्म समाज बंगाल और सम्पूर्ण भारत में सुधार-क्रियाकलापों का केन्द्र बन गया।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने, जो संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य बने, गैर-ब्राह्मण छात्रों हेतु संस्कृत-शिक्षा के द्वार खोल दिए। उन्होंने विधवा-पुनर्विवाह तथा लड़कियों हेतु शिक्षा के लिए अथक परिश्रम किया। यह उनके प्रयासों का ही फल था कि 1856 में विधवा-पुनर्विवाह को विधि-सम्मत बना दिया गया। राममोहन राय के सर्वाधिक प्रतिभासम्पन्न उत्तराधिकारियों में से एक, केशवचन्द्र सेन, ने उनके संदेश को देशभर में फैलाया। 1864 में बम्बई व मद्रास तथा 1868 में पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रांतों (एन.डब्ल्यू.एफ.पी.) की उनकी यात्रा बम्बई में 'प्रार्थना समाज' का अन्य स्थानों में 'ब्रह्म समाज' के निर्माण में परिणत हुई।

महाराष्ट्र ने, मध्यकाल में भक्ति-संतों के समय से चली आ रही सुधारों की एक सशक्त परम्परा के साथ, बालशास्त्री जम्भेकर व गोपाल हरि देशमुख को जन्म दिया जिन्होंने 'लोकहितवादी' नाम ग्रहण किया। उन्होंने एक बुद्धिवादी दृष्टिकोण से ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों, और महिलाओं व निम्न जातियों के अवमूल्यन की आलोचना की। फिर इनके साथ शामिल हो गए गोपाल गणेश अगरकर और कृष्णा शास्त्री चिपलूणकर, हिन्दू धर्म व समाज के सामने चुनौतियों पर अत्यधिक आलोचनात्मक संदर्श रखने वाले एक संस्कृत पंडित। 1948 में बम्बई में बनी 'वैज्ञानिक व साहित्यिक समिति' और प्रार्थना समाज (1864) सुधार आंदोलन के केन्द्र बन गए।

इन नए विचारों ने बम्बई प्रैसीडेन्सी के पारसी समुदाय को आसानी से जीत लिया। कुर्सेट्जी नसर्वाजी कामा, नौरौजी फरदोन्जी तथा सोरबजी शपूर्जी बंगाली इसमें आगे थे। ज्यादा जोर महिलाओं की सामाजिक स्थिति व शिक्षा पर था। कुर्सेट्जी कामा ने लड़कियों के लिए नियमित स्कूल शुरू किए और सर जमशेट्जी जीजीभाई ने पारसी कन्याओं के लिए चार स्कूल खोले, जो 1856 में पारसी गर्ल्स एसोसिएशन द्वारा अधिकार में ले लिए गए। फरदोन्जी की आवधिक पत्रिका 'विद्यासागर' और बंगाली की 'जगत्मित्र' तथा दयान प्रकाशक मण्डली ने नए सामाजिक व साहित्यिक विचारों का प्रसार किया। दादाभाई नौरोजी के पत्र 'रस्त गोफ्तार' (1851) ने समुदाय के भीतर सुधार लाने वाली प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित किया।

सन् 1857 में आंध्र में इंग्लु वीरस्वामैया ने लिखा कि शास्त्रों में अस्पृश्यता को कोई मान्यता नहीं है, और ईसाई-धर्मांतरण इसी प्रथा की वजह से हो रहे हैं। राजामुंद्री के समिनेनी मुधूनरसिन्हैया नायडू ने 'हितसूचनी' लिखा जिसमें उन्होंने विवाह और नारी-शिक्षा से संबंधित सामाजिक समानताओं पर ध्यान आकृष्ट किया। तथापि, यह कण्डाकरी वीरेशालिनन (1848-1919) ही थे जिन्होंने आंध्र में सुधार प्रक्रिया को एक संगठित व सक्रिय रूप दिया। उनके पत्र 'विवेकार्थिनी' (1974) ने न्यायपरक बुद्धिजीवी दृष्टिकोण अपनाते हुए इस रूढ़ि की आलोचना की, और जातिगत असमानताओं व समाज में महिलाओं की अशक्तता पर भी प्रहार किया। उन्होंने ईसाई मिशनरियों के स्कूलों के अतिरिक्त भी महिलाओं के लिए अनेक स्कूल शुरू किए। आंध्र में महिला पत्र-पत्रिकाओं के युग का आह्वान करते हुए उन्होंने 1883 में 'सतीहितबोधिनी' का प्रकाशन आरंभ किया जो महिलाओं से संबंधित विषयों को संबोधित करती थी। इसी बीच, 1864 में केशवचन्द्र सेन की यात्रा और ब्रह्मसमाज की स्थापना ने इन सुधारकों के प्रयासों को आगे बढ़ाया। कुड्डालोर के चेम्बेटी श्रीधरलु नायडू ने जब काकीनाडा में ब्रह्म समारोहों का कार्य निभाना शुरू कर दिया, वे दक्षिण भारत में प्रथम अनुस्थानिक ब्रह्म (1869) बन गए। पीठापुर के राजा ने लड़कियों के लिए स्कूल खोले।

असम में, कुलीनवाद और सती-प्रथा के विरुद्ध निर्देशित प्रहार हुए। जादूराम बरुआ ने स्वयं एक विधवा से विवाह कर विधवा-पुनर्विवाह की लहर चलाई। गुणवीराम बरुआ और हेमचन्द्र बरुआ ने बाद में एक नए उत्साह के साथ इन प्रथाओं पर प्रहार किया। 'विवाह पद्धति' और 'तीन घैनी' में हेमचंद्र बरुआ ने बहु-विवाह व उसके संबद्ध बुराइयों पर प्रहार किया, जबकि 'बाहिरे रंग भीतरे कोआ भातुरी' ने पुरोहित-वर्ग के अधार्मिक कृत्यों को उजागर किया।

ब्रिटिशों द्वारा सत्ता-ग्रहण ने मुस्लिम अभिजात्य वर्ग को सर्वाधिक उत्तरी भारत में प्रभावित किया। पूर्वोक्त ब्रिटिश भू-राजस्व प्रणाली ने बंगाल में कृषि-वर्ग को कंगाल कर दिया, जो कि प्रधान रूप से मुस्लिम थे। विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिक्रियाएँ, इसी कारण, भिन्न-भिन्न थीं। पूर्वतम प्रतिक्रिया ब्रिटिश शासन के प्रति तीव्र विरोध की थी। एक औपनिवेशिक-विरोधी समालोचना के अभाव ने अपनी अभिव्यक्ति को उन धार्मिक संबंधों की ओर उन्मुख किया जिनका रायबरेली के सैयद अहमद

(1786-1831) के वहाबी आंदोलन और शरीअतुल्ला के फराज़ी आंदोलन ने उदाहरण प्रस्तुत किया।

उत्तरी भारत में मुस्लिम अभिजात-वर्ग के प्रवर्गों में किए गए विद्रोह और प्रतिरोध प्रवृत्ति में एक बदलाव लाए। प्रतिद्वंद्विता की बजाय ब्रिटिश शासन से समन्वय को मुस्लिम समाजों में सुधार लाने हेतु समझदारी समझा गया। बंगाल में, सैयद अब्दुल लतीफ (1828-93) और अमीर अली (1849-1928) ने मुसलमानों को अंग्रेज़ी शिक्षा प्रदान किए जाने हेतु प्रयास किए। यह सैयद अहमद (1817-98) ही थे जिनको अहसास था कि उत्तर-भारतीय मुस्लिम समुदायों के भीतर किसी भी सुधार के लिए मुस्लिम अभिजात-वर्ग की बदली परिस्थितियों को संबोधित किए जाने की आवश्यकता है। उन्होंने महसूस किया कि अपने आत्मविश्वास और नेतृत्व के भाव को पुनर्प्राप्त करने के लिए इस अभिजात वर्ग को एक आधुनिक शिक्षा से सुसज्जित किए जाने की आवश्यकता है। 1875 में, उन्होंने भारत में मुसलमानों के सुधारों के संदेशवाहक के रूप में, अलीगढ़ में मौहम्मडन एंग्लो-ओरियण्टल कॉलेज शुरू किया। मुस्लिम समुदायों की महिलाओं को बेहतर स्थान दिया गया क्योंकि उनके हिन्दू अथवा पारसी प्रतिपक्षों की भाँति उन्हें साक्षरता से कभी दूर नहीं रखा गया। कुरान के प्रपाठन ने उन्हें प्राथमिक साक्षरता प्रदान की, परन्तु ऐसा 20वीं सदी के प्रथम दशकों में ही हुआ कि मुस्लिम महिलाओं को घर से बाहर के स्कूलों में लाने के प्रयास किए गए। 1911 में, बंगाल की बेगम रुकैया सखावत हुसैन (1880-1932) ने कलकत्ता में एक कन्या विद्यालय स्थापित किया। इस संबंध में बदरुद्दीन तयैबजी और एस.एस. बिलग्रामी के परिवारों और हैदराबाद के शाही परिवार का प्रयास उल्लेखनीय है।

समाज सुधार हेतु सभी प्रयासों में, परम्परा से आलोचनात्मक रूप से जुड़ने के प्रयत्न किए गए। लेकिन एक विचारधारा और अस्तित्व में भी जिसने विद्यमान सारी परम्पराओं पर प्रहार किया और वैकल्पिक परम्पराएँ प्रस्तुत कीं। पूना में, एक माली-पुत्र, ज्योतिबा फुले (1827-90) ने जाति-दमन से स्वयं गुज़रने के बाद, इस समुदाय का एक वैकल्पिक इतिहास प्रस्तुत किया जिसे उन्होंने 'बहुजन समाज' पुकारा। उन्होंने ब्राह्मणों को उन बाहरी लोगों के रूप में देख जिन्होंने बहुजनों की भूमि बलपूर्वक ले ली थी और उन्हें अछूतों व निम्न-जाति की पद-स्थिति पर धकेल दिया था। उन्होंने इन असमानताओं को वैध ठहराते रामदास जैसे भक्ति-संतों समेत सभी परम्पराओं की आलोचना की। अम्बेडकर ने वाद में इस सशक्त विचारधारा को विकसित किया। पंडिता रमाबाई (1858-1922) के 'दि हाई कास्ट हिन्दू वुमन' ने ब्रह्मणवादी रूढ़िवादिता के प्रबल पितृ-तंत्रामक लक्षण पर ध्यान आकृष्ट किया, और जाति व लिंग असमानताओं की परम्परा व स्थायीकरण की पवित्रता पर ढेरों प्रश्नों के साथ आक्रमण किया। मद्रास में, रामलिंगमस्वामी ने एक बड़े ही सशक्त बुद्धिजीवी वंशक्रम का प्रतिनिधित्व किया।

2.7 सुधार या पुनरुत्थान?

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में इस उप-महाद्वीप के प्रजाजीवी जीवन में अवगम्य परिवर्तन हुए। बंगाल में बंकिमचन्द्र चटर्जी, अक्षयकुमार सरकार, राजेन्द्रलाल मित्रा, भूदेव मुखर्जी, और महाराष्ट्र में विष्णुशास्त्री चिपलूणकर, बालगंगाधर तिलक और भण्डारकर ने आत्मविश्वास का एक भाव दर्शाया, जो विवेकानन्द की वेदान्त-विजय में परीकाष्ठा पर पहुँच रहा था। यही था अपने गौरवमय अतीत की पुनर्खोज के ऊपर एक समाज का विश्वास। यह विद्रोह के बाद ब्रिटिशों द्वारा दर्शाए गए प्रजातीय अक्षयडपन के प्रति एक अनुक्रिया भी थी। इस पुनरुत्थानवादी प्रतिक्रिया का लक्ष्य था गौरवपूर्ण हिन्दू अतीत के आधार पर समाज सुधार करना, और इसीलिए वह पाश्चात्य विचारों द्वारा

प्रेरित सुधारों का आलोचक था। विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने, जिनके पिता कृष्णशास्त्री चिपलूणकर एक पूर्ववर्ती सुधारक थे, इस पुनरुत्थान का समर्थन किया। एक अन्य धारा ने समाज-सुधार के मामले में किसी राज्यात्मक अथवा विधायी अन्तर्भाविता का विरोध किया। इस धारा के पूर्ववर्ती प्रस्तावकों में से एक, राधाकान्त देवे, के विरोध का सामना राममोहन राय को करना पड़ा।

पुनरुत्थानवादी जरूरी नहीं था कि सुधारों के खिलाफ ही हों। जबकि पूर्ववर्ती बुद्धिजीवियों ने पुरातनकाल के साथ एक आलोचनात्मक संबंध कायम रखा था, अब इसके स्थान पर अतीत के अभिकथन का पुनरुत्थानवादी भाव आ गया। दयानन्द सरस्वती जो काठियावाड़ में मूलशंकर के नाम से जन्मे, ने सुधार हेतु आधार के रूप में वेदों में सामाजिक व्यवस्थाएँ बनाईं। उन्होंने विधर्मी हिन्दू समाज के विरुद्ध पाश्चात्य आलोचना का प्रत्युत्तर देने, और हिन्दूवाद में ही अनावश्यक व निर्मम प्रथाओं को समाप्त करने का प्रयास किया। इन्हीं विचारों पर आधारित सुधार का प्रचार करने हेतु उन्होंने 1875 में बम्बई में 'आर्य समाज' की स्थापना की। 'थियोसोफिकल सोसाइटी' ने भी भारत की धार्मिक परम्पराओं की महानता का समर्थन किया, और इनको पाश्चात्य परम्पराओं की विपरीत दिशाओं में माना। विवेकानन्द ने जोरदार ढंग से वेदान्तिक धर्म की सर्वोच्चता का उद्घोष किया।

2.8 सामाजिक अथवा राजनीतिक सुधार?

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश में राष्ट्रवाद एक संगठित और अभिकथनात्मक सुर में आ चुका था। सामाजिक अथवा राजनीतिक सुधार की पूर्ववर्तिता पर तर्क-वितर्क केन्द्रीय पड़ाव पर आना शुरू हो गया। बाल गंगाधर तिलक (1856-1920) ने सामाजिक सुधार की बनिस्पत राजनीति को प्राथमिकता दी, और 1893 में भारतीय सामाजिक सम्मेलन को कांग्रेस अधिवेशन से बाहर ही करवाया। गोपालकृष्ण गोखले (1866-1915) का, बहरहाल, यह सोचना था कि सामाजिक व राजनीतिक दोनों सुधार साथ-साथ चलने चाहिए। राजनीति में उग्रपंथियों के, और उनके जो सामाजिक मामलों में किसी राज्य अथवा विधायी हस्तक्षेप का प्रतिरोध करते थे, प्रभुत्व ने धीरे-धीरे सामाजिक व राजनीतिक सुधार के बीच अलगाव ला दिया। विवाह-योग्य आयु विधेयक (1893) के भारी विरोध और कांग्रेस अधिवेशनों से सामाजिक सम्मेलन के निष्कासन ने यह संकेत दिया कि सामाजिक परिवर्तन और सुधार राष्ट्रवादी हेतुक के लिए गौण हो गए थे। महात्मा गाँधी का उद्गमन सामाजिक व राजनीतिक प्रश्न को एक बार फिर एक साथ ले आया।

2.9 बुद्धिजीवी-वर्ग, सुधार तथा औपनिवेशिक राज्य

वह अभिदृष्टि जिसने पूर्ववर्ती सुधारकों का संचलन किया, समानता, स्वतंत्रता और एक प्रबुद्ध समाज वाली थी, और ब्रिटिशजन इन सिद्धांतों के संदेशवाहक के रूप में देखे गए। इसने सुधारकों के औपनिवेशिक शासन-बोध को आकार दिया। विद्रोह-पूर्व ब्रिटिश प्रशासकों ने भी सुधारकों की मदद करने में अपनी उत्सुकता दिखाई। ज्योतिबा फुले के अनुसार, "ब्रिटिश सरकार ने ही यह संभव किया कि मैं स्पष्ट बोल सका और अपने विचार व्यक्त कर सका।" यह महत्त्वपूर्ण है कि जब बुद्धिजीवी-वर्ग निम्न जातियों अथवा मुस्लिम समुदायों के बीच उद्गमित हुआ, उन्होंने भी सुधार लाने में मदद के लिए औपनिवेशिक राज्य का मुँह ताका। 1820 और 1870 के बीच, तथापि औपनिवेशिक शासन और औपनिवेशिक राज्य के स्वभाव में परिवर्तन हुआ। इसकी सुधारात्मक भूमिका का वर्णन हुआ, और ये सुधारक प्रजातीय वंशक्रमों को साथ लेकर चलाए जा रहे उस राज्य

के साथ कार्य-व्यापार करने लगे, जिसने इसके अस्तित्व के खिलाफ किसी भी संगठित प्रयास का प्रतिरोध करना शुरू कर दिया था। लेकिन यहाँ महत्त्वपूर्ण मतभेद थे। उत्तर भारत में मुस्लिम समाज की सशक्त प्रतिक्रियाओं से अवगत, जैसा कि सैय्यद अहमद बरेली के आंदोलन एवं अन्य ब्रिटिश-विरोधी व आधुनिकता-विरोधी प्रवृत्तियों में देखा गया, सैय्यद अहमद द्वारा शुरू की गई सुधार-प्रक्रिया एक उच्चवर्गीय संदर्श रखती थी। राममोहन राय जैसे सुधारकों को अपने ही वर्ग अथवा अभिजात वर्ग से विरोध का सामना करना पड़ा। इसप्रकार, औपनिवेशिक राज्य से प्रत्येक द्वारा उम्मीद की जाने वाली मदद दिशात्मक रूप से भिन्न थी। सैय्यद अहमद को उन वर्गों से विरोध का सामना करना पड़ा जो ब्रिटिशों के विरोध में थे, अर्थात् उलमा। इस प्रकार, 1880 के दशक में जब सैय्यद अहमद व अन्य ने एक सुधार-समर्थक लबादा ओढ़ लिया, वे उन उलमाओं के विरुद्ध खड़े हुए जिन्होंने अपने ब्रिटिश-विरोधी अभिलक्षण को बनाए रखा था।

2.10 उपनिवेशवाद की समालोचना

राममोहन राय व पूर्ववर्ती सुधारकों को देश के औपनिवेशिक शोषण की जानकारी थी। तथापि, औपनिवेशिक शासन की सकारात्मक भूमिका ने इस जानकारी को अत्यधिक भारी बना दिया। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में बुद्धिजीवियों के वर्ग ने महसूस किया कि उपनिवेशवाद, सामाजिक पुनरुत्थान के बीज बोने से कहीं अधिक, भारतीय समाज को मूलतः हानि ही पहुँचा रहा था। दादाभाई नौरोजी (1825-1917) – भारत के वयोवृद्ध, न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे (1842-1901), रोमेश चन्द्र दत्त (1848-1909), जी०वी० जोशी (1851-1911) व अन्य ने विकासशील व अद्यतनशील भारत के औपनिवेशिक अभिकथन पर प्रश्न करने शुरू कर दिए। उन्होंने जानना चाहा यदि यह सत्य है तो क्यों भारतीय दिन-ब-दिन गरीब होते जा रहे हैं, और गाँव अकालग्रस्त हैं, जबकि उत्पादनशील उद्योग व शिल्पकार वर्ष-दर-दर विनष्ट होते जा रहे हैं। दादाभाई नौरोजी ने “निर्गम सिद्धांत” सामने रखा जो यह स्पष्ट करता है किस प्रकार संसाधनों की बड़ी राशि भारत से व्यय होकर इंग्लैण्ड का रास्ता पा लेती है। यह औपनिवेशिक राज्य के नागरिक व सैन्य सरकारी कर्मचारियों के वेतनों व निवृत्ति-वेतनों, भारत सरकार द्वारा लिए गए ऋणों पर ब्याज, और भारत में लगी ब्रिटिश पूँजी के विशाल लाभों के रूप में था। इनमें परवर्ती का अर्थ था रेलमार्गों में निवेश पर पाँच प्रतिशत प्रत्याभूत लाभ, और इंग्लैण्ड में प्रशासन लागत। इस निर्गमन ने भारत में न सिर्फ उसके विद्यमान संसाधनों का बल्कि भविष्य निवेश हेतु आधिशेष का भी, अभाव ला दिया। इस विवाद पर कि भारत में रेलमार्गों ने औद्योगिक क्रांति की शुरुआत का महत्त्व दर्शाया, नौरोजी की प्रतिक्रिया थी कि रेलमार्गों ने मात्र औपनिवेशिक शासन को भारत के भीतरी प्रदेशों में घुसने का रास्ता साफ कर दिया जिससे वे ब्रिटिश उद्योगों के लिए सस्ता कच्चा-माल ले जा सकें और वापसी में यहाँ ब्रिटिश उद्योग का तैयार माल ला सकें। इस प्रकार, इसने सभी लाभ ब्रिटिश उत्पादनकर्ता को देकर ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति में सहायता की। इस रोग-निदान का प्रचार आम बहस, प्रकाशनों, आदि के माध्यम से किया गया, और ब्रिटिश परोपकार के झूठे विचार को एक तरफ कर दिया। नौरोजी व अन्य ने भारत के वास्तविक आधुनिकीकरण, और भारतीय पूँजी की मदद से औद्योगिकीकरण की वकालत की।

बोध प्रश्न 3

नोट: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर की जाँच इकाई के अंत में दिए गए आदर्श उत्तर से करें।

1) सामाजिक आंदोलन जिनका उन्मूलन करना चाहते थे वे समस्याएँ क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) सामाजिक व राजनीतिक मुद्दों के विषय में बहस में मुख्य बिन्दु क्या था?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) "निर्गम सिद्धांत" से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.11 सारांश

समाज के विभिन्न वर्गों ने भारत में उपनिवेशवाद के प्रति अनुक्रिया की। उनकी प्रतिक्रिया उनसे सम्बन्धित मामलों की प्रकृति और उन-पर उपनिवेशवाद के प्रभाव पर निर्भर थी। कृषि-वर्ग ने भू-व राजस्व-प्रणाली के बारे में औपनिवेशिक नीतियों के खिलाफ विरोध-प्रदर्शन कर प्रतिक्रिया की। जनजातियों ने ब्रिटिशजन व उनके भारतीय सहबद्धों के खिलाफ विरोध व्यक्त किया। मध्यवर्ग व बुद्धिजीवी-वर्ग ने भारतीय परम्परा से ब्रिटिशों का सामना करने का आह्वान किया। उनमें से अनेक समानता, स्वतंत्रता व भाई-चारे के विचारों से प्रभावित थे। भारत के प्रति ब्रिटिश नीतियाँ परोपकार की बजाय औपनिवेशिक हित से दिशा-निर्देशित थीं।

2.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- चक्रवर्ती, उमा, रिराइटिंग हिस्ट्री : दॅ लाइफ एण्ड टाइम्स ऑव पण्डिता रमाबाई, दिल्ली, 1998।
 चंद्र, विपन, नैशनलिज्म एण्ड कॅलोनिअलिज्म इन् मॉर्डन इण्डिया, दिल्ली, 1979।
 देसाई, ए०आर० पीजैण्ट स्ट्रगल्स इन् इण्डिया, दिल्ली, 1979।
 हार्डी, पीटर, दि मुस्लिम्स ऑव ब्रिटिश इण्डिया, लन्दन, 1972।
 हीम्सैथ, चार्ल्स, इण्डियन नैशनलिज्म एण्ड हिन्दू सोशल रिफॉर्म, प्रिन्सटन, 1964।
 नटराजन, एस०, ए सैन्चुरी ऑव सोशल रिफॉर्म इन् इण्डिया, बम्बई, 1959।
 सिंह, सुरेश के०, दि डस्ट स्ट्रॉम एण्ड हैगिंग मिस्ट, कलकत्ता, 1966।
 सिंह, सीताराम, नैशनलिज्म एण्ड सोशल रिफॉर्म इन् इण्डिया : 1885 से 1920, दिल्ली, 1968।

2.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

- 1) कृषकों ने औपनिवेशिक शासन के खिलाफ विरोध-प्रदर्शन किया। उन्होंने भू-स्वामियों व नील-बागान मालिकों, दोनों पर प्रहार किया।
- 2) उन्होंने अपने पारम्परिक, प्रतीकों का आह्वान करते हुए औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध क्रांति की।

बोध प्रश्न 2

- 1) यह इस भाव में भिन्न था कि जबकि कृषि-वर्ग व जनजातियाँ सीधे-सीधे भूमि व सामाजिक ढाँचों से संबद्ध थीं, यह गैर-जमीनी आर्थिक ढाँचों में अधिक घिरा था। इसके अलावा, इसने ब्रिटिशों के खिलाफ क्रांति की क्योंकि यह कृषि-वर्ग व जनजातियों की अपेक्षा अधिक प्रबुद्ध था।
- 2) उन्होंने भारतीय परम्पराओं का आह्वान कर, और भारतीय समाज के सुधार करने हेतु पुकार कर औपनिवेशिक शासन का प्रत्युत्तर दिया।
- 3) उन्होंने समाचार पत्र-पत्रिकाओं तथा मुद्रित सामग्री द्वारा आम-बहस को जन्म दिया।

बोध प्रश्न 3

- 1) उन्होंने जातिगत भेदभाव, विधवा-पुनर्विवाह पर प्रतिबंध, सती-प्रथा, किशोरियों छकाने, इत्यादि के उन्मूलन हेतु प्रयास किया।
- 2) बहस इस प्रश्न पर थी कि क्या समाज-सुधारकों को राजनीतिक सुधारों से ऊपर रखना चाहिए या फिर इसके विपरीत। बालगंगाधर तिलक ने राजनीतिक मुद्दों को प्राथमिकता दी जबकि गोपालकृष्ण गोखले दोनों ही मुद्दे एक साथ उठाना चाहते थे।
- 3) दादाभाई नौरोजी द्वारा प्रस्तुत किया गया 'निर्गम सिद्धांत' स्पष्ट करता है कि किस प्रकार भारत से व्यय हुई संसाधनों की विशाल राशि इंग्लैण्ड का रास्ता पा लेती थी।